



Date: 28-10-26

Fouled waters

River pollution from industrial effluents indicates state failure

Editorial



The Supreme Court has pulled up, once again, the Rajasthan government over industrial effluents flowing into the Jojari river and the deadly risk it poses for the people depending on it. The problem is decades old — public interest litigation in the Rajasthan High Court alerted State machinery to the problem in 2011 — indicating an oversight by the State bordering on the systematic. The Jojari, the Luni, and the Bandi are seasonal rivers in the State's arid western region, flowing through Jodhpur, Balotra, and Pali districts. This region has also evolved as a

textile-dyeing and steelworking hub, and untreated or insufficiently treated effluents from these factories have run directly into the rivers and soil, endangering the health of around 20 lakh local residents. The region also suffers rampant illegal sand mining in riverbeds. The sewage treatment plants have been able to accommodate only around half of the sewage generated in the three urban centres, according to the State's submissions to the Court in 2025, even as the Court recorded substantial underutilisation at common effluent treatment plants. The combination is suggestive of industrial sources bypassing treatment facilities, poor connections between the sources and the facilities, and/or insufficient capacity at particular sites or in specific periods.

The Court initiated a suo motu writ petition in 2025 and constituted a High-level Ecosystem Oversight Committee chaired by Justice Sangeet Lodha to audit the plants and draft a plan to restore the rivers. Based on the committee's scathing status reports, Justices Vikram Nath and Sandeep Mehta banned construction within 100 metres of the rivers' edges and hazardous industries within 500 m of the present path, or of the flood lines where available. The Court has also upbraided local authorities for failing to enforce pollution norms by citing the Court's own stay of a 2022 National Green Tribunal order imposing a compensation on the Rajasthan State Industrial Development and Investment Corporation and the local administration in Jodhpur and Barmer. The State regulatory apparatus has been dysfunctional: officials were aware of illegal mining operations in some areas, yet they regularised leases in those areas. Given the dereliction in play, the Court is correct to treat the possibility of collusion between State officials and industrial mafias seriously. Justice Mehta's observation that the State could be held liable under the 'polluter pays' principle is also a significant indictment of state failure, through negligence. Now, importantly, the State still has to restore the Jojari and attend to its wellbeing, which is relevant to a recent tendency by the Court to substitute itself for regulators rather than disciplining them into discharging their functions. This needs to change.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 28-10-26

एथनॉल अपनाने की तेज रफ्तार

संपादकीय



सड़क परिवहन एवं राजमार्ग मंत्रालय ने ई100 और ई85 ईंधन को अपनाने को मंजूरी दे दी है और फ्लेक्स ईंधन वाले वाहनों के पंजीयन को भी स्वीकृति दे दी गई है। निकट भविष्य में तेल कीमतों पर भू-राजनीतिक परिदृश्य के प्रभाव तथा परिवहन आदि के कारण शहरों में बढ़ते प्रदूषण को देखते हुए इस कदम की जरूरत को समझा जा सकता है। परंतु ऐसी नीति को अपनाने की गति को लेकर सावधानी बरतनी चाहिए क्योंकि एथनॉल के इस्तेमाल को लेकर कुछ नकारात्मक अनुमान भी हैं। ई10 से ई20 ईंधन की तरफ बढ़ने की प्रक्रिया नियत समय से 5 साल पहले ही पूरी हो गई है। ऐसा आपूर्ति क्षेत्र की बाधाओं और विशुद्ध शून्य उत्सर्जन लक्ष्य को प्राप्त करने की जरूरतों के कारण हुआ

है। इसने कार मालिकों को नाखुश किया है जिनके वाहनों का प्रति किलोमीटर माइलेज 7 से 12 फीसदी तक कम हुआ है। यह बात ईंधन की मांग कम होने के तर्क को ध्वस्त करती है। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक अप्रैल में ई20 को पूरी तरह लागू किए जाने के बाद तेल आयात मद में अक्टूबर के मध्य तक 19 लाख करोड़ रुपये की बचत की गई है और 3.1 करोड़ टन तेल की भी बचत हुई। लेकिन कुछ विश्लेषकों ने इन आकलनों पर सवाल उठाए हैं।

पहली नजर में वाहनों के लिए एथनॉल आधारित ईंधन की पहल सभी के लिए फायदेमंद रही है। इससे खासकर बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और कर्नाटक में किसानों की आय स्थिर करने में मदद मिली है। एथनॉल उत्पादन ने कृषि उपज के अतिरिक्त भंडार के लिए एक सुनिश्चित बाजार उपलब्ध कराया है। साथ ही खराब हो चुके खाद्यान्न का भी उपयोग किया जा सका है। एथनॉल बनाने वाली डिस्टिलरी आमतौर पर कृषि उत्पादन केंद्रों के नजदीक स्थापित होती हैं। इससे रोजगार के अवसर पैदा होते हैं और ग्रामीण विकास को भी बढ़ावा मिलता है।

हालांकि खाद्य सुरक्षा और पारिस्थितिकी पर इसके दीर्घकालिक प्रभाव अब भी सवालों के घेरे में हैं। इसका असर इस साल चीनी बाजार में भी देखने को मिला जब शुरुआती भंडार कम होने और उत्पादन में गिरावट के कारण साल की शुरुआत में चीनी कीमतों में तेज उछाल आई। इस बीच सरकार ने चावल के बड़े पैमाने पर एथनॉल उत्पादन में इस्तेमाल किए जाने के आरोपों को खारिज किया है। सरकार ने स्पष्ट किया है कि भारतीय खाद्य निगम ने एथनॉल उत्पादन के लिए केवल खराब या टुकड़ा अनाज का ही इस्तेमाल किया और इससे खाद्य सुरक्षा कार्यक्रम पर कोई खतरा पैदा नहीं हुआ।

समय के साथ और कृषि बाजारों की अनिश्चितताओं को देखते हुए एथनॉल कार्यक्रम का तेजी से विस्तार किसानों को अधिक भूमि पर गन्ने या मक्के की खेती के लिए प्रोत्साहित कर सकता है। इससे समस्याएं पैदा हो सकती हैं। ब्राजील को एथनॉल आधारित ईंधन की ओर बदलाव के मामले में दुनिया की सफल कहानियों में गिना जाता है। वर्ष 1975 में शुरू हुआ यह बदलाव करीब 25 वर्षों तक चला। इससे ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में निश्चित रूप से कमी आई लेकिन स्थानीय पारिस्थितिकी पर इसका प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ा। वहां किसानों ने कृषि भूमि पर मक्के और गन्ने की खेती शुरू की तो पशुपालकों और मवेशी पालने वालों को अपनी जमीन छोड़नी पड़ी। उन्होंने पशुपालन के लिए एमेज़ॉन के वर्षा वनों के बड़े हिस्से को काट दिया। उसे समय-समय पर कीमतों और आपूर्ति के बीच असंतुलन का भी सामना करना पड़ा। जब वैश्विक बाजार में चीनी की कीमतें बढ़ीं, तो एथनॉल उत्पादन कार्यक्रम के लिए उपलब्ध चीनी की आपूर्ति स्वाभाविक रूप से घट गई। इसके उलट जब एथनॉल की कीमतें बढ़ीं तो चीनी की फसल का रुख एथनॉल उत्पादकों की ओर हो गया।

भारत में भी यह सवाल है कि एथनॉल कार्यक्रम के लिए गन्ने जैसी पानी की भारी खपत वाली फसलों को बड़े पैमाने पर बढ़ावा देना कितना उचित है खासकर तब जब उर्वरक, पानी और बिजली जैसे कृषि निवेश या तो भारी सब्सिडी पर उपलब्ध हैं या मुफ्त दिए जाते हैं। कुल मिलाकर भारत की कृषि नीतियों की जटिलताओं को देखते हुए एथनॉल की ओर बदलाव की प्रक्रिया को अचानक तेज करने के बजाय धीरे-धीरे आगे बढ़ाना बेहतर हो सकता है।

Date: 28-10-26

डेटा सेंटरों का विरोध, भारत के लिए अवसर या संकट?

देवांशु दत्ता

यूक्रेन ने 7 से 11 अक्टूबर के बीच रूस के तीन बड़े डेटा सेंटर पर ड्रोन से सफल हमले किए। ये तीनों डेटा सेंटर रूस की दिग्गज प्रौद्योगिकी कंपनी यांडेक्स के थे, जिसे अक्सर 'रूस का गूगल' कहा जाता है। इन हमलों से डेटा सेंटरों को काफी नुकसान पहुंचा। इसके बाद 12 अक्टूबर को वैश्विक इंटरनेट ट्रैफिक में यांडेक्स की हिस्सेदारी 99 फीसदी तक गिर गई। हालांकि, 14 अक्टूबर तक यह सामान्य स्तर के लगभग 85 फीसदी तक लौट आई।

कुछ डेटा विश्लेषकों का दावा है कि यांडेक्स की सेवाएं ठप होने का असर, सोशल मीडिया पर सक्रिय दक्षिणपंथी ट्रोल और बॉट ट्रैफिक पर भी पड़ा। उनके मुताबिक, जर्मनी की एएफडी पार्टी और अमेरिका की रिपब्लिकन पार्टी को भी कुछ दिनों तक सोशल मीडिया पर प्रतिक्रिया देने के कम मौके मिले। हालांकि, कुछ अन्य विश्लेषकों का कहना है कि इन बॉट खातों की गतिविधियां पूरी तरह बंद नहीं हुईं बल्कि वे दूसरे क्लाउड सेवा प्रदाताओं की ओर चले गए।

यांडेक्स को रूस का गूगल कहा जाता है, लेकिन इसके कारोबार का दायरा गूगल की मूल कंपनी अल्फाबेट के मुकाबले काफी छोटा है। वर्ष 2025 में यांडेक्स का राजस्व करीब 20 अरब डॉलर था जबकि अल्फाबेट का राजस्व 402 अरब डॉलर रहा। इसके बावजूद यांडेक्स की सेवाओं का दायरा काफी व्यापक है। यह रूस में सरकार के अनुकूल माने जाने वाले सर्च इंजन का संचालन करता है, अपनी क्लाउड सेवाओं के जरिए वेबसाइटों और बॉट को होस्ट करता है तथा ईमेल जैसी सेवाएं भी देता है। इसके अलावा, कंपनी का यांडेक्स एआई भी है जो एक ही मोबाइल ऐप में डिजिटल सहायक, सर्च इंजन और चैटबॉट ऐप की सुविधाएं उपलब्ध कराता है। यह इंटरनेट पर किसी भी समय में जानकारी खोजने के साथ-साथ जेनेरेटिव एआई की क्षमताओं का भी इस्तेमाल करता है।

इन सभी सेवाओं के संचालन के लिए बड़े डेटा सेंटरों की जरूरत होती है। ये आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) से जुड़े काम करते हैं, डेटा का बैकअप रखते हैं, सूचनाओं का प्रसंस्करण और विश्लेषण करते हैं तथा क्लाउड सेवाओं को चलाने के लिए जरूरी बुनियादी ढांचा उपलब्ध कराते हैं। लेकिन इनकी एक बड़ी कीमत भी है। डेटा सेंटर भारी मात्रा में बिजली और पानी की खपत करते हैं जबकि इनसे रोजगार के बहुत कम अवसर पैदा होते हैं। अरबों डॉलर की लागत से बनने वाले किसी डेटा सेंटर में कर्मचारियों की संख्या एक दर्जन से भी कम हो सकती है।

डेटा सेंटरों को लेकर विवाद केवल उनके इस्तेमाल और बॉट या ट्रोल नेटवर्क को संभावित रूप से मदद देने तक सीमित नहीं है। अमेरिका में आगामी मध्यावधि चुनावों के मद्देनजर ये डेटा सेंटर एक बड़ा राजनीतिक मुद्दा बनते जा रहे हैं। इसकी मुख्य वजह इनका स्थानीय संसाधनों पर पड़ने वाला बोझ है।

बिजली और पानी की भारी खपत से स्थानीय बुनियादी ढांचे पर दबाव बढ़ सकता है और इस कारण शुल्क बढ़ने का खतरा रहता है। इसके अलावा, जब किसी इलाके में अरबों डॉलर का निवेश होने के बावजूद स्थानीय लोगों को बहुत कम रोजगार मिलता है तब ऐसी परियोजनाओं की उपयोगिता को लेकर सवाल उठना स्वाभाविक है। एआई के तेजी से विस्तार और नौकरियों पर उसके संभावित असर को लेकर पहले से ही चिंता है। ऐसे में डेटा सेंटरों की बढ़ती संख्या इस डर को और बढ़ा रही है कि नई तकनीक से रोजगार के अवसर पैदा होने के बजाय नौकरियां कम हो सकती हैं।

जनमत सर्वेक्षणों से भी संकेत मिलता है कि अमेरिका में रिपब्लिकन और डेमोक्रेट, दोनों दलों के समर्थक इन डेटा सेंटर को लेकर चिंतित हैं। इस विरोध को अक्सर 'नॉट इन माई बैकयार्ड' (निंबी) वाला मसला समझा जाने लगता है यानी लोग इसे अपने इलाके में स्थापित करने के खिलाफ होते हैं। कुछ रिपोर्ट और सर्वेक्षणों के अनुसार, अमेरिका में ऐसे लोगों की संख्या भी अच्छी-खासी है जो अपने इलाके में डेटा सेंटर की तुलना में परमाणु बिजली संयंत्र स्थापित किए जाने को ज्यादा सहजता से स्वीकार कर सकते हैं। यह स्थिति इसलिए भी दिलचस्प है क्योंकि डेटा सेंटरों की बिजली की बढ़ती मांग, भविष्य में नए परमाणु बिजली संयंत्रों में निवेश को बढ़ावा दे सकती है।

न्यूयॉर्क में डेटा सेंटरों पर रोक लगाई गई है जबकि अमेरिका के 14 अन्य राज्यों में भी ऐसे डेटा सेंटर पर प्रतिबंध या अस्थायी रोक लगाने के प्रस्तावों पर विचार किया जा रहा है। हाल की रिपोर्टों के मुताबिक, बिजली की दरों और रोजगार से जुड़ी चिंताओं के अलावा अमेरिका के नागरिकों को अपनी निजता पर पड़ने वाले संभावित असर की भी चिंता है। इसके साथ ही, कई नागरिकों को संदेह है कि कुछ स्थानीय नेताओं ने डेटा सेंटर कंपनियों को विशेष रियायतें देने के बदले अनुचित लाभ उठाया होगा। कुछ परियोजनाओं को गोपनीय समझौतों के तहत मंजूरी दिए जाने की खबरों ने भी इन आशंकाओं को हवा दी है।

क्या अमेरिका में डेटा सेंटरों को लेकर बढ़ती नाराजगी से एआई के विस्तार पर रोक लग जाएगी? बिल्कुल नहीं। दुनिया भर में डेटा सेंटर बनाने की योजनाएं चल रही हैं और कम से कम कागजों पर, इन पर होने वाला पूंजीगत खर्च और तेजी से बढ़ने वाला है। हालांकि, डेटा सेंटरों का विरोध केवल अमेरिका तक सीमित नहीं है। यूरोप में भी स्थानीय लोगों के विरोध के कारण करीब 70 परियोजनाएं फिलहाल देरी का सामना कर रही हैं। यह विरोध मुख्य रूप से अपने इलाके में इन डेटा सेंटर को स्थापित करने के खिलाफ वाली सोच से जुड़ा है।

डेटा सेंटरों के खिलाफ इस नाराजगी को भारत के डिजिटल क्षेत्र के लिए एक बड़े अवसर के रूप में पेश किया जा सकता है। भारत पहले से ही कई बड़े डेटा सेंटर से जुड़ी परियोजनाओं की योजना बनाने, मंजूरी लेने या निर्माण के अलग-अलग चरणों में हैं। संभव है कि विकसित देशों में विरोध के कारण कुछ और परियोजनाएं भारत जैसे देशों की ओर रुख करें।

सवाल यह है कि इसमें आखिर क्या जोखिम हो सकता है? बिजली और पानी के संसाधनों के मामले में भारत की स्थिति अमेरिका या यूरोपीय संघ के मुकाबले कहीं अधिक दबाव वाली है। राजनीतिक नेताओं द्वारा बड़ी परियोजनाओं के बदले कमीशन या अनुचित लाभ लेने से जुड़ी आशंकाओं को पहले से ही आम बात मानकर चलें। लेकिन भ्रष्टाचार को लेकर लोगों की सहनशीलता अक्सर इस बात पर निर्भर करती है कि उन्हें बदले में कोई प्रत्यक्ष लाभ दिखाई देता है या नहीं। उदाहरण के लिए, सड़क निर्माण के ठेके में भ्रष्टाचार की आशंका के बावजूद लोग नई सड़क को उपयोगी मान सकते हैं, क्योंकि इससे उनकी यात्रा आसान होती है। लेकिन इसके विपरीत, डेटा सेंटर स्थानीय लोगों के लिए बहुत कम प्रत्यक्ष लाभ दे सकता है और एआई के विस्तार से कुछ क्षेत्रों में नौकरियां घटने की आशंका भी। इतना ही नहीं, इनके कारण बिजली और पानी की उपलब्धता पर दबाव बढ़ सकता है। ऐसे में भ्रष्टाचार भी एक अहम मुद्दा हो सकता है।

क्या भारत में डेटा सेंटरों का खूब विरोध होने की कल्पना करना अतिशयोक्ति होगी? ऐसा नहीं है। भारत में बंदरगाहों, तांबा गलाने वाले कारखानों और परमाणु बिजली संयंत्रों जैसी परियोजनाओं का स्थानीय स्तर पर विरोध होता रहा है। ऐसे में डेटा सेंटरों को भी विरोध का सामना करना पड़ सकता है।

एक अलग नजरिए से देखें तो कुछ परिस्थितियों में विरोध और इससे कारण परियोजनाओं में होने वाली देरी भारत के हित में भी साबित हो सकती है। इसकी वजह एआई का बनता बड़ा बुलबुला है और अगर यह फूटता

है तो डेटा सेंटर में किए गए निवेश का पैसा डूब सकता है। ऐसी स्थिति में जो परियोजनाएं किसी भी कारण से शुरुआती चरण में ही रुक जाती हैं, उनमें होने वाला वित्तीय नुकसान अपेक्षाकृत कम होगा।



Date: 28-10-26

स्थायी सदस्यता

संपादकीय

संयुक्त राष्ट्र महासभा में वीटो के सवाल पर आयोजित अंतर-सरकारी वार्ता (आईजीएन) सत्र को संबोधित करते हुए भारतीय प्रतिनिधि पर्वतनेनी हरीश ने जो कुछ कहा, वह 140 करोड़ भारतीयों की भावनाओं को ध्वनि देता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने तो साल 2020 में ही संयुक्त राष्ट्र में तार्किक सुधारों पर जोर देते हुए कहा था कि आखिर भारत को कब तक निर्णय लेने की व्यवस्था से अलग रखा जाएगा? अब पर्वतनेनी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना 'वीटो पावर' के स्थायी सदस्यता दायम दर्जे की नागरिकता सरीखी है और भारत को यह कतई मंजूर नहीं। उनकी दलील बिल्कुल सही है कि सभी स्थायी सदस्यों के पास, चाहे वे पुराने हों या नए, समान अधिकार होने चाहिए। इस समय सुरक्षा परिषद के पांचों स्थायी सदस्यों- अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन को वीटो का अधिकार प्राप्त है और इस शक्ति के कारण ही कोई भी सदस्य देश दूसरे वीटो प्राप्त देश के हितों को सीधे-सीधे चोट पहुंचाने से बचता रहा है। अलबत्ता, ऐतिहासिक तथ्य यह है कि कुछ देशों ने अपने रणनीतिक फायदे के लिए इस शक्ति का बेजा इस्तेमाल किया। वीटो इस्तेमाल की धमकी देकर उन्होंने अपनी बातें मनवाईं। इसलिए पर्वतनेनी ने इन पांचों को सही याद दिलाया कि वीटो का अधिकार एक बड़ी जिम्मेदारी है और संकीर्ण राजनीतिक हित साधने के लिए इसका दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र को वजूद में आए आठ दशक से अधिक समय हो गए और इसमें सुधार की मांग लंबे समय से की जाती रही है। इस मांग के ठोस आधार हैं, क्योंकि इसके सबसे शक्तिशाली अंग सुरक्षा परिषद में यूरोप को अधिक प्रतिनिधित्व हासिल है। स्थायी सदस्यों में इस महाद्वीप से रूस, फ्रांस और ब्रिटेन तीन सदस्य देश हैं, जबकि अफ्रीका और लातिन अफ्रीका का इसमें शून्य प्रतिनिधित्व है। गौरतलब यह भी है कि जब यह संस्था गठित हुई थी, तब महज 51 देशों ने इसके चार्टर को स्वीकार किया था, जबकि आज इसके सदस्य देशों की संख्या 193 हो चुकी है। ऐसे में, इस विशाल संस्था को अधिक लोकतांत्रिक और भौगोलिक रूप से ज्यादा संतुलित बनाए जाने की आवश्यकता है। पांचों विशेषाधिकार प्राप्त देश मौखिक तौर पर भले सुधारों की पहल को समर्थन देने की बात करते हैं, पर वास्तव में वे नहीं चाहते कि उनके बराबर हैसियत में कोई अन्य देश आए। इसके लिए वे दशकों से कोई न कोई अड़ंगा लगाते रहे हैं।

अब दुनिया काफी बदल चुकी है और एशिया के देश आर्थिक रूप से भी बेहतर प्रदर्शन करने लगे हैं। चूंकि उनकी मांगों की उपेक्षा बहुत दिनों तक मुमकिन नहीं हो सकेगी, इसलिए बिना वीटो शक्ति के स्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाने का शिगूफा छोड़ा गया। अमेरिका और चीन जैसे ताकतवर देश अपना दबदबा बनाए रखने के लिए पिटू देशों के जरिये विवाद खड़ा करते हैं, ताकि सुधार टलते रहें और वे विशेषाधिकारों का लाभ उठाते रहें। भारत की राह में रोड़े अटकाने के लिए इस्लामाबाद का इस्तेमाल पहले वाशिंगटन ने किया और अब बीजिंग करता है, इसलिए सुधारों का फैसला बहुमत के आधार पर होना चाहिए। चीन को छोड़ दें, तो भारत की स्थायी सदस्यता के दावे की हिमायत दुनिया की तमाम बड़ी शक्तियां करती हैं। भारत न सिर्फ एक जिम्मेदार परमाणु शक्ति है, बल्कि वह दुनिया का सबसे विशाल लोकतंत्र होने के साथ-साथ विश्व की एक अग्रणी अर्थव्यवस्था भी है। फिर भला वह वीटो रहित सदस्यता क्यों कबूल करे?

Date: 28-10-26

न्यायपालिका की प्रतिष्ठा सबसे जरूरी

हरबंश दीक्षित, (विधि विशेषज्ञ)

देश के सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश रह चुके न्यायमूर्ति संजय किशन कौल की आने वाली पुस्तक विदाउट फीयर ऑर फेवर से जुड़े कुछ अंशों और खुद उनके साक्षात्कारों ने भारतीय न्यायपालिका की आंतरिक कार्यशैली को लेकर एक नई बहस छेड़ दी है। वह यह कि क्या न्यायपालिका के भीतर के मतभेदों को सार्वजनिक करना संस्थागत पारदर्शिता का हिस्सा है अथवा ऐसा करते समय उस संस्था की प्रतिष्ठा और मर्यादा के प्रति भी विशेष दायित्व निभाया जाना चाहिए?

यह प्रश्न किसी व्यक्ति विशेष या न्यायिक कार्यकाल तक सीमित नहीं है। इसकी जड़ में न्यायपालिका की वह विशिष्ट सांविधानिक स्थिति है, जो उसे लोकतंत्र की अन्य संस्थाओं से अलग पहचान देती है। संसद और सरकार की तरह न्यायपालिका की प्रतिष्ठा का नवीनीकरण चुनावों के जरिये नहीं होता। उसकी सबसे बड़ी पूंजी जनता का विश्वास है, जिसे प्रत्येक न्यायाधीश को अपने निर्णयों, निष्पक्षता और आचरण से निरंतर अर्जित करना पड़ता है। इसी तरह, न्यायपालिका के प्रति विश्वास में आई दरार का प्रभाव किसी एक न्यायाधीश तक सीमित नहीं रहता, बल्कि पूरी संस्था की प्रतिष्ठा को प्रभावित करता है, इसलिए न्यायाधीशों से असाधारण संयम और उच्च नैतिक मानकों की अपेक्षा की जाती है।

इसी संदर्भ में पूर्व न्यायाधीशों के सार्वजनिक वक्तव्यों से जुड़े प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाते हैं। न्यायमूर्ति संजय किशन कौल की पुस्तक से संबंधित चर्चा ने इस बहस को नए सिरे से सामने रखा है कि न्यायिक कार्यकाल के अनुभवों और आंतरिक मतभेदों को किस सीमा तक सार्वजनिक किया जाना चाहिए? न्यायपालिका भी मनुष्यों से

बनी संस्था है। उसमें मतभेद होना स्वाभाविक है। न्यायिक नियुक्तियों, प्रशासनिक निर्णयों और प्रधान न्यायाधीशों की कार्यशैली पर अलग-अलग दृष्टिकोण हो सकते हैं। इन मतभेदों को स्वीकार करना लोकतांत्रिक और संस्थागत परिपक्वता का संकेत है, लेकिन असहमति व्यक्त करने के अधिकार के साथ उसके तरीके और प्रभाव की जिम्मेदारी भी जुड़ी होती है।

पूर्व न्यायाधीशों के अनुभव देश-समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं। संस्मरणों और साक्षात्कारों के माध्यम से न्यायिक इतिहास के ऐसे पहलू सामने आ सकते हैं, जिनसे संस्थागत सुधार का मार्ग प्रशस्त हो, किंतु जब संवेदनशील घटनाओं का उल्लेख सार्वजनिक मंचों पर होता है, तब उनके शब्दों का प्रभाव केवल संबंधित व्यक्तियों तक सीमित नहीं रहता। आम नागरिक उन वक्तव्यों को न्यायपालिका की आंतरिक वास्तविकता का प्रमाण मान सकता है। यदि बातें अधूरे संदर्भों में प्रसारित हों, तब न्यायपालिका के प्रति अविश्वास पैदा होने की आशंका बढ़ जाती है।

भारतीय न्यायिक इतिहास में न्यायपालिका की स्वतंत्रता को विभिन्न कालखंडों में गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। वर्ष 1973 में केशवानंद भारती मामले के निर्णय के बाद तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों की उपेक्षा करके न्यायमूर्ति ए एन रे को देश का प्रधान न्यायाधीश नियुक्त किया गया था। इस नियुक्ति को न्यायिक स्वतंत्रता और वरिष्ठता की परंपरा के संदर्भ में विवादास्पद माना गया। आपातकाल के दौरान 1976 में एडीएम जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला मामले में सर्वोच्च न्यायालय के बहुमत के निर्णय की व्यापक आलोचना हुई, जबकि न्यायमूर्ति एच आर खन्ना का असहमति वाला निर्णय सांविधानिक साहस का ऐतिहासिक उदाहरण बन गया।

न्यायाधीशों का सामाजिक आचरण भी इस कसौटी पर परखा जाना चाहिए। किसी निजी आयोजन में राजनेताओं की उपस्थिति अपने आप में अनुचित आचरण का प्रमाण नहीं है, किंतु संबंधित व्यक्ति या सरकार के हितों से जुड़े मामले यदि न्यायाधीश के समक्ष लंबित हों, तब ऐसी निकटता का सार्वजनिक प्रदर्शन जनमानस में संदेह उत्पन्न कर सकता है। न्याय में निष्पक्षता का होना जितना आवश्यक है, उतना ही जरूरी उसका निष्पक्ष दिखाई देना भी है।

इसीलिए प्रभावी न्यायिक आचार-संहिता की आवश्यकता पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने सन् 1997 में 'रीस्टेटमेंट ऑफ वैल्यूज ऑफ ज्यूडिशियल लाइफ' के रूप में न्यायिक जीवन के मूल्यों संबंधी सिद्धांत स्वीकार किए थे। अब आवश्यकता है कि मौजूदा मानकों को अधिक स्पष्ट और प्रभावी बनाया जाए। न्यायाधीशों के राजनीतिक व्यक्तियों से संपर्क, हितों के टकराव, सार्वजनिक वक्तव्यों, न्यायिक गोपनीयता और सेवानिवृत्ति के बाद सरकारी पद स्वीकार करने जैसे विषयों पर स्पष्ट दिशा-निर्देश होने चाहिए।

पूर्व न्यायाधीशों के संस्मरणों और सार्वजनिक वक्तव्यों के संबंध में भी ऐसे नैतिक मानक विकसित किए जा सकते हैं, जो तथ्यात्मक शुद्धता, संदर्भ की पूर्णता और संस्थागत मर्यादा को प्रोत्साहित करें। साथ ही, गंभीर अनियमितताओं को उजागर करने के लिए विश्वसनीय माध्यम उपलब्ध हों। ऐसी संहिता का उद्देश्य न्यायिक

स्वतंत्रता को सीमित करना या आलोचना को दबाना नहीं हो, बल्कि यह सुनिश्चित करना हो कि सत्य सामने आए, जवाबदेही निर्धारित हो और संस्था की प्रतिष्ठा दांव पर न लगे।

न्यायपालिका की गरिमा किसी एक न्यायाधीश की निजी संपत्ति नहीं है। यह न्यायाधीशों की निष्ठा, निर्भीकता और सांविधानिक प्रतिबद्धता से अर्जित सामूहिक धरोहर है। इस धरोहर की रक्षा करना वर्तमान न्यायाधीशों की संस्थागत जिम्मेदारी है और पूर्व न्यायाधीशों का नैतिक दायित्व। जिस संस्था ने किसी व्यक्ति को प्रतिष्ठा के शिखर तक पहुंचाया हो, उसके प्रति संयम और जिम्मेदारी बरतना हर न्यायाधीश पर 'नैतिक ऋण' है। इस ऋण का अर्थ मौन रहना अथवा गलतियों पर परदा डालना नहीं, बल्कि सत्य को प्रमाण के साथ, आलोचना को मर्यादा के साथ और सुधार की मांग को संस्थागत निष्ठा के साथ प्रस्तुत करना है।

न्यायाधीशों के लिए आचरण की लक्ष्मण-रेखा अनिवार्य है। जिस तरह संविधान ने उन्हें राजनीतिक दबाव से सुरक्षित रखने की व्यवस्था की है, उसी तरह वह उनसे उच्चतम नैतिक आचरण की अपेक्षा करता है। न्यायपालिका की प्रतिष्ठा की रक्षा किसी व्यक्ति का उपकार नहीं, बल्कि उस सांविधानिक व्यवस्था के प्रति दायित्व है, जिस पर करोड़ों नागरिक अपने अधिकारों और न्याय की आशा के लिए भरोसा करते हैं।

Date: 28-10-26

चुनौतियां दूर होने के बाद ही दौड़ेंगी एथेनॉल गाड़ियां

नरेंद्र तनेजा, (पेट्रोलियम विशेषज्ञ)

सौ फीसदी एथेनॉल वाले ईंधन को मंजूरी देने का केंद्र सरकार का फैसला विवेचना की मांग करता है। इस ईंधन में पेट्रोल नहीं होता, जिसका मतलब है, गाड़ियां 'हाइड्रो-कार्बन' से नहीं, बल्कि 'बायो फ्यूल' से चलेंगी। निश्चय ही, ई-100 ईंधन वाली गाड़ियों को मंजूरी देने का रास्ता अब साफ हो गया है, मगर इस ईंधन की आर्थिक, पर्यावरणीय व कृषि संबंधी कीमत का विश्लेषण करने पर तस्वीर का दूसरा पक्ष नजर आता है, जो चुनौतीपूर्ण है।

पहले इससे होने वाले फायदों की चर्चा। पहला लाभ, यह पेट्रोल या डीजल की तुलना में कम प्रदूषण फैलाता है, लगभग न के बराबर। नतीजतन, जो लोग आबोहवा की बेहतरी चाहते हैं, वे ई-100 गाड़ियां खरीदने को उत्सुक हो सकते हैं। दूसरा, चूंकि सरकार इसे प्रोत्साहित कर रही है, इसलिए मुमकिन है कि इसकी कीमतें पेट्रोल से कम होंगी, यानी इससे उपभोक्ताओं पर आर्थिक भार कम पड़ेगा। तीसरा, इससे हमारा आयात बिल कम हो जाएगा, क्योंकि जरूरत का करीब 85 फीसदी तेल हम दूसरे देशों से खरीदते हैं। और चौथा, इस ईंधन के लिए खास गाड़ियों की दरकार होगी, इसलिए ई-100 गाड़ियों के शोध व विकास मद में नए रोजगार पैदा हो सकते हैं। भारत में इन

गाड़ियों का बड़ा बाजार भी खड़ा हो सकता है, जिससे अर्थव्यवस्था को लाभ मिलेगा। फिर भी, कई ऐसी चुनौतियां हैं, जिनसे पार पाए बिना यह ईंधन शायद ही देश में अपनी जगह बना पाए।

पहली चुनौती। एथेनॉल मुख्यतः गन्ना, चावल और मक्का से बनाया जाता है, जबकि गन्ना व चावल के उत्पादन में पानी की बहुत खपत होती है। आंकड़े तो यह भी बताते हैं कि अकेले पंजाब में, जो पहले गेहूं उत्पादन पर जोर देता था, 1970 के दशक में धान की पैदावार बढ़ाने की नीति अपनाने के बाद पानी की किल्लत होने लगी। इसका अर्थ है कि एथेनॉल की कृषि-लागत की अनदेखी खतरनाक हो सकती है। दूसरी, एथेनॉल जहां बनता है, वह भी एक तरह की रिफाइनरी होती है। वहां से ईंधन की ढुलाई के लिए विशेष व्यवस्था करनी होगी। इसी तरह, पेट्रोल पंपों पर पेट्रोल और डीजल के अलावा अलग पंप लगाने होंगे या फिर अलग से एथेनॉल पंप खोलने होंगे। दोनों ही सूरत में अच्छी-खासी लागत आएगी। तीसरी चुनौती गाड़ी-निर्माताओं को पेश आएगी। उन्हें ऐसी गाड़ियां बनानी होंगी, जो शत-प्रतिशत एथेनॉल से चलें। इसके लिए जरूरी ढांचा खड़ा करने में उन्हें ठीक-ठाक निवेश करना होगा। फिलहाल ऐसी गाड़ियां उंगलियों पर गिनने लायक हैं।

तब आखिर क्यों सरकार इस ईंधन की ओर बढ़ रही है? इसका जवाब इसके उत्पादन में छिपा है। दरअसल, एथेनॉल उत्पादन को लगातार प्रोत्साहित किया जा रहा है। नतीजतन, आज सालाना करीब 2,000 करोड़ लीटर एथेनॉल हम बनाने लगे हैं। उत्पादन अधिक होने की सूरत में खपत बढ़ाना अनिवार्य है, और इसके दो तरीके हैं- पहला, निर्यात करना और दूसरा, घरेलू खपत बढ़ाना। वैश्विक बाजार का हाल यह है कि अमेरिका, ब्राजील जैसे देश हमारे एथेनॉल को बहुत आगे नहीं बढ़ने दे रहे, क्योंकि उनकी उत्पादन क्षमता हमसे कई गुना अधिक है। ऐसे में, लगता है कि सरकार ने घरेलू खपत बढ़ाने का फैसला किया है। हालांकि, बीते महीनों में जिस तरह से 'ई-20' को लेकर विवाद पैदा हुआ था, जिनमें से कुछ शिकायतें सही भी थीं, उसने ई-100 की राह मुश्किल बना दी है। फिर भी, इस ईंधन पर आगे बढ़ा गया है, जबकि पेट्रोल में एक सीमा तक ही एथेनॉल की मिलावट लोग स्वीकार कर सके थे।

जब भी एथेनॉल की चर्चा की जाती है, तो ब्राजील का उदाहरण पेश किया जाता है। ब्राजील इसका दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक देश है, जहां सालाना लगभग 36.83 अरब लीटर एथेनॉल बनाया जा रहा है। इस देश की आबादी उत्तर प्रदेश से भी कम है, जबकि क्षेत्रफल भारत से तीन गुना ज्यादा। इसलिए, वह एथेनॉल की लागत से उस तरह प्रभावित नहीं हो रहा, जिस तरह भारत हो सकता है। फिर, भारतीयों में आर्थिक साक्षरता का भी अभाव है। लिहाजा, बेहतर यही होता कि सरकार इलेक्ट्रिक गाड़ियों (ईवी) की ओर ही कदम तेज करती। न्यून पर्यावरणीय व कृषि नुकसान को देखते हुए उसे ही भारत का 'भविष्य का ईंधन' बनाना गलत नहीं होगा।